वरदान

प्रेमचंद

वरदान

प्रेमचंद

अध्याय-1

विन्ध्याचल पर्वत मध्यरात्रि के निविड़ अन्धकार में काल देव की भांति खड़ा था। उस पर उगे हुए छोटे-छोटे वृक्ष इस प्रकार दष्टिगोचर होते थे, मानो ये उसकी जटाएं है और अष्टभुजा देवी का मन्दिर जिसके कलश पर श्वेत पताकाएं वायु की मन्द-मन्द तरंगों में लहरा रही थीं, उस देव का मस्तक है मंदिर में एक झिलमिलाता हुआ दीपक था, जिसे देखकर किसी धुंधले तारे का मान हो जाता था।

अर्धरात्रि व्यतीत हो चुकी थी। चारों और भयावह सन्नाटा छाया हुआ था। गंगाजी की काली तरंगें पर्वत के नीचे सुखद प्रवाह से बह रही थीं। उनके बहाव से एक मनोरंजक राग की ध्वनि निकल रही थी। ठौर-ठौर नावों पर और किनारों के आस-पास मल्लाहों के चूल्हों की आंच दिखायी देती थी। ऐसे समय में एक श्वेत वस्त्रधारिणी स्त्री अष्टभुजा देवी के सम्मुख हाथ बांधे बैठी हुई थी। उसका प्रौढ़ मुखमण्डल पीला था और भावों से कुलीनता प्रकट होती थी। उसने देर तक सिर झुकाये रहने के पश्चात कहा।

'माता! आज बीस वर्ष से कोई मंगलवार ऐसा नहीं गया जबकि मैंने तुम्हारे चरणो पर सिर न झुकाया हो। एक दिन भी ऐसा नहीं गया जबकि मैंने तुम्हारे चरणों का ध्यान न किया हो। तुम जगतारिणी महारानी हो। तुम्हारी इतनी सेवा करने पर भी मेरे मन की अभिलाषा पूरी न हुई। मैं तुम्हें छोड़कर कहां जाऊ?'

'माता। मैंने सैकड़ों व्रत रखे, देवताओं की उपासनाएं की', तीर्थयात्राएं की, परन्तु मनोरथ पूरा न हुआ। तब तुम्हारी शरण आयी। अब तुम्हें छोड़कर कहां जाऊं? तुमने सदा अपने भक्तो की इच्छाएं पूरी की है। क्या मैं तुम्हारे दरबार से निराश हो जाऊं?'